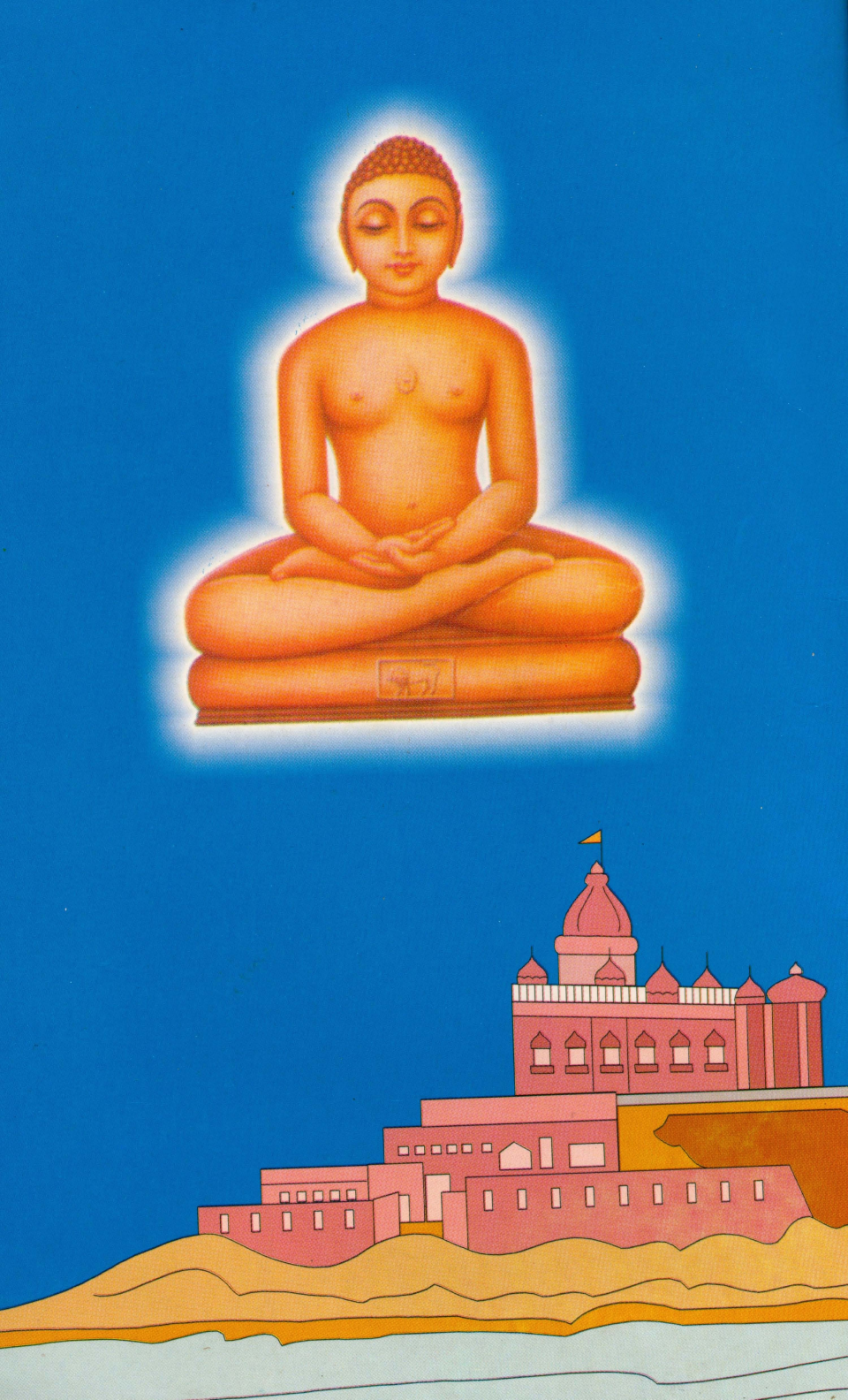

भेदविज्ञान का यथार्थ प्रयोग

लेखक :
नेमीचन्द पाटनी

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रथम संस्करण- २०००
२६ अक्टूबर, २००१ (विजयादशमी)

मूल्य – तीन रुपये मात्र

अनुक्रमणिका

भेदविज्ञान	५
भेदज्ञान का प्रयोग	६
भेदज्ञान का प्रथम सोपान	८
सिद्धस्वभावी ज्ञायक की स्थापना	११
भेदज्ञान के यथार्थ प्रयोग से उपलब्धि	१३
विकारी आत्मा को ज्ञायक कैसे मानें ?	१७
विकार का उत्पादक कारण क्या	१८
पर को स्व जानने की भूल ज्ञान कैसे ?	२२
मिथ्याश्रद्धा अनादि की कैसे ?	२२
अनादि की मिथ्याश्रद्धा का अभाव...	२५
सद्भूत-असद्भूत के विषयों से...	२६

टाईप सेटिंग –
जैन कम्प्यूटर्स, जयपुर
फोन : ७००७५१
फैक्स : ५१९२६५

मुद्रक –
प्रिण्ट 'ओ' लैण्ड
बाइस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

श्री नेमीचन्दजी पाटनी द्वारा लिखित उनकी यह लघु कृति भेद-विज्ञान का यथार्थ प्रयोग प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

जैन समाज के जाने-पहचाने वयोवृद्ध विद्वान श्री पाटनी जी जहाँ एक ओर राष्ट्रीय स्तर की बड़ी-बड़ी संस्थाओं के कुशल संचालन में सिद्धहस्त हैं, वहीं आप जिनवाणी का स्वयं रसपान करने और कराने की भावना से भी ओतप्रोत रहते हैं।

ऐसे महान व्यक्तित्व विरले ही देखने का मिलेंगे, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में समर्पित किया है, पाटनी जी उनमें अग्रणी हैं।

जिस उम्र में सारा जगत अपने उद्योग-धंधों को आगे बढ़ाने में दिन-रात एक करते देखे जाते हैं, उस उम्र में आदरणीय पाटनी जी पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से प्रभावित होकर उस ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने हेतु घर-परिवार की ओर से अपना लक्ष्य हटाकर उद्योग-धंधों की परवाह न करके पूज्य श्री कानजी स्वामी के मिशन में सम्मिलित हो गए और अल्प समय में अपने कुशल नेतृत्व द्वारा वहाँ महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया पाटनी जी की तत्त्वज्ञान के प्रति समर्पण की भावना बढ़ती चली गई। सन् १९६४ में स्व. सेठ पूरनचंदजी गोदिका द्वारा जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन की नींव रखी गई, तभी से आप पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के महामंत्री हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन का वह वट बीज, जो आज एक महान वट वृक्ष के रूप में पल्लवित हो रहा है, उसमें डॉ. भारिल्ल के अतिरिक्त पाटनी जी का ही सर्वाधिक योगदान है।

प्रस्तुत प्रकाशन के पूर्व श्री पाटनी जी की और भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं; जिनमें 'सुखी होने का उपाय' भाग-१ से ८ तक भी हैं जो आध्यात्मिक तलस्पर्शी ज्ञान के कोश हैं। यद्यपि हिन्दी भाषा साहित्य के सौन्दर्य की दृष्टि से उक्त पुस्तकें भले खरी न उतरें परन्तु भावों की दृष्टि से जैनदर्शन के मर्म को समझने/समझाने में ये पुस्तकें पूर्ण समर्थ हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन 'भेद-विज्ञान का यथार्थ प्रयोग' पढ़कर आप सभी भेद-विज्ञान का यथार्थ स्वरूप समझें और अनन्त सुखी हों, इसी भावना के साथ –

– **मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

श्री नागेन्द्र कुमार जी पाटनी, आगरा	५०१/-
श्रीमती कलावती कंचनबाई पाटनी फै.चै. ट्रस्ट, मुम्बई	५०१/-
श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसादजी सरावगी, कलकत्ता	५००/-
श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	३०१/-
श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१/-
श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१/-
श्री पवनकुमारजी जगवायन (लालकोठी), जयपुर	२५१/-
श्री विनयकुमारजी जैन, सरधना	२०१/-
श्री अनिलचन्दजी जैन, सरधना	२०१/-
श्री मेहरचन्दजी जैन, सरधना	२०१/-
श्री अशोककुमारजी जैन, मेरठ	२०१/-
चौधरी फूलचन्दजी जैन, मुम्बई	१११/-
श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१०१/-
श्रीमती गुलाबीदेवी लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर	१०१/-

लेखक के अन्य प्रकाशन

१. सुखी होने का उपाय-१	७/-
२. सुखी होने का उपाय-२	८/-
३. सुखी होने का उपाय-३	प्रेस में
४. सुखी होने का उपाय-४	७/-
५. सुखी होने का उपाय-५	१२/-
६. सुखी होने का उपाय-६	१०/-
७. सुखी होने का उपाय-७	१०/-
८. सुखी होने का उपाय-८	८/-
९. व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ	३/-
१०. शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति	३/-
११. णमो लोए सव्व साहूणं	२/-
१२. वस्तु स्वातन्त्र्य	३/-
१३. आत्मसम्बोधनम्	२/५०
१४. निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व	१२/-
१५. सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता	५/-
१६. सुख कहाँ ?	३/-
१७. तत्त्वनिर्णय ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है	प्रेस में

भेदविज्ञान का यथार्थ प्रयोग

भेदविज्ञान

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

(समयसार कलश-१३१)

अर्थ – जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेद विज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और जो कोई बंधे हैं वे उसी के (भेदविज्ञान के) अभाव से ही बंधे हैं।

आचार्य श्री यह भी बतलाते है कि भेद विज्ञान कहाँ तक भाना चाहिये –

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥

(समयसार कलश-१३०)

अर्थ – यह भेद विज्ञान अच्छिन्न धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाह रूप से) तबतक भाना चाहिये जबतक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर न हो जावे।

उपर्युक्त दोनों कलशों द्वारा मोक्षमार्ग में भेदविज्ञान की अनिवार्यता एवं उपयोगिता, स्पष्टतया सिद्ध होती है। आत्मार्थी को यह समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि वह भेद विज्ञान क्या है और उसके लिए किस प्रकार उसका प्रयोग किया जावे ? अतः उक्त विषय का विवेचन संक्षेप से निम्नप्रकार है –

परिभाषा – मिले हुए दो विषयों-पदार्थों-वस्तुओं के स्वरूपों को पहिचान कर, भिन्न-भिन्न समझने का नाम ही भेद विज्ञान है अर्थात् दोनों के भेद का ज्ञान करना – समझना एवं प्राप्त करना वह भेदविज्ञान है। मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत तो, मात्र हमारी आत्मा है। उसको मोक्ष प्राप्त कराना प्रयोजन है। अत: आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचानकर, संसार दशा में वह अन्य पदार्थों के साथ मिला हुआ दिखने पर भी उसको भिन्न पहिचानना, भेदविज्ञान का प्रथम चरण है। आचार्य का आदेश है कि ऐसे भेदज्ञान को "जिसमें विच्छेद नहीं पड़े ऐसे अखण्ड धारा प्रवाह से भाना चाहिये।" वह भी कबतक कि "जबतक ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित न हो जावे" अर्थात् मुक्तदशा (पूर्णशुद्धदशा) प्राप्त न हो जावे।

भेदज्ञान का प्रयोग

भेदज्ञान का प्रयोग दो प्रकार से होता है, एक तो मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिये और दूसरा ज्ञानी हो जाने (चतुर्थ गुणस्थान) के पश्चात् पूर्ण दशा प्राप्ति के लिये। पहिले प्रकार का भेदज्ञान भी दो प्रकार से होता है, एक तो अपने आत्मा को (त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव को) स्व के रूप में पहिचानकर-समझकर निर्णय करने के लिये; दूसरा निर्णय करने के पश्चात् भी निर्णीत आत्मस्वरूप में अपनी परिणति को एकाग्रकर, निर्विकल्प उपयोग द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये होता है। वर्तमान में **हमारी पुस्तिका का विषय, पहली पद्धति पर चर्चा करके निर्विकल्प आत्मानुभूति के मार्ग का ज्ञान कराना है।**

अज्ञानी से ज्ञानी बनने वालों को सहजरूप से पाँच लब्धियों के परिणाम होते हैं। ऐसे जीव को 'सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि' एवं 'आत्मार्थी' भी कहा जाता है।

भेदविज्ञान के सभी प्रकार की पद्धति में, स्वयं की

पूर्णदशा अर्थात् परमात्मदशा प्राप्त करने की रुचिका उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ पृष्टबल, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य आवश्यकता है। उक्त रुचि के अभाव में भेदज्ञान की कोई प्रकार की पद्धति सफल नहीं हो सकती।

सर्वप्रथम अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिये अपने स्वरूप अर्थात् त्रिकाली-ज्ञायक-ध्रुव रूप को, अपना अस्तित्व मानने के लिये समझकर-पहिचानकर-निर्णय करना अनिवार्य है। इस प्रक्रिया में ज्ञान, बर्हिलक्ष्यी वर्तते हुए इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करता है। ऐसे ज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप समझने का कार्य तो होता है; लेकिन आत्मानुभव नहीं होता। फिर भी उक्त रुचिपूर्वक निर्णय हुए बिना, आत्मानुभूति की प्रक्रिया भी प्रारम्भ करने योग्य पात्रता प्रगट नहीं होती।

उक्त निर्णय प्राप्त करने के लिये, अपने ज्ञायक-ध्रुव का स्वरूप पहिचानकर, उसका अन्य सबसे (ज्ञेयमात्र से) भिन्नता का भेदज्ञान किया जाता है, वह प्राथमिक दशा प्राप्त आत्मार्थी का भेदज्ञान है। इस की सफलता का मूल आधार तो अपना स्वरूप समझना है। परज्ञेयों का स्वरूप समझकर अथवा विचार कर उनसे भिन्नता के विकल्प करना, भेदज्ञान का आधार नहीं है। जैसे अन्य धातुओं के मिश्रण से स्वर्ण का भेदज्ञान करना हो तो, शुद्ध स्वर्ण के स्वरूप का ज्ञान ही मूल आधार होता है अन्य धातुओं का नहीं। जल मिश्रित दूध में दूध की पहिचान के लिये, दूध के स्वरूप का ज्ञान आधारभूत होता है, जल का नहीं आदि-आदि अनेक दृष्टान्त हैं। इसीप्रकार अपना आत्मा भी अन्य ज्ञेयों के साथ मिश्रित हो गया हो, ऐसा अनुभव में आता है। भेदज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को उनसे अलग समझने-पहिचानने के लिये, अपने (ज्ञायक के) स्वरूप की

पहिचान ही मूल आधार है, ज्ञेयों के स्वरूप की पहचान नहीं। जो अपने नहीं हैं अर्थात् स्व (ज्ञायक) नहीं है, उनके प्रति परपने का निर्णय, स्वरूप की निःशंक पहिचान बिना नहीं हो सकेगा; स्वरूप की पहिचान एवं निर्णय हुए बिना, ज्ञेयों में परपने के विकल्पों से प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती।

भेदज्ञान का प्रथम सोपान

अनादि से आत्मा शरीर के साथ एक हो गया हो अर्थात् दोनों का अस्तित्व एक हो गया हो ऐसा अनुभव में आता है; लेकिन वास्तविक स्थिति इससे विपरीत है। मृत्यु काल में आत्मा तो शरीर से निकल जाता है और शरीर यहीं पड़ा रह जाता है – मिट्टी में मिला दिया जाता है; इससे सिद्ध होता है कि जो शरीर में से निकल गया, वही आत्मा था, उसका नाश नहीं हुआ - उसका अस्तित्व है। ऐसे निकल जाने वाले आत्मा को चेतना लक्षण के द्वारा, सरलता से पहिचान लिया जाता है। चेतना की विद्यमानता में, शरीर को भी जीवित (ज्ञान युक्त) कहा जाता था। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर से निकल जाने वाली चेतना शक्ति का धारक है, वही आत्मा है; शरीर नहीं। चेतना शक्ति धारक ज्ञायक इन्द्रियगोचर नहीं होने से अमूर्तिक है। ज्ञान के द्वारा स्व एवं पर का जाननेवाला होने से ज्ञायक भी है, ऐसा अनुभव होता है। ज्ञायक, अपने असंख्यात प्रदेशी स्व क्षेत्र में रहते हुवे ही ज्ञान के द्वारा ज्ञेयों का ज्ञान कर लेता है, जानने के लिये स्व क्षेत्र को छोड़कर ज्ञेय के पास जाना नहीं पड़ता और न ज्ञेय को ज्ञायक के समीप आना पड़ता है; दोनों अपने-अपने क्षेत्र में अवस्थित रहते हैं, फिर भी ज्ञायक को ज्ञान तो हो ही जाता है। जानने के लिये ज्ञान को ज्ञेय के सन्मुख भी नहीं होना पड़ता वरन्

स्वमुखापेक्षी रहते हुए ही ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में ज्ञान स्वयं ज्ञान पर्याय को जानता है अर्थात् स्वयं की योग्यता से परिणत ज्ञेयों के आकार रूप परिणत अपनी ज्ञानपर्याय को ही जानता है। जैसे नेत्र के मध्य की काली टीकी (लेन्स) में द्रश्य पदार्थों के आकार प्रतिबिम्बित होते हैं, उन आकारों को ही नेत्र देखता है, पर पदार्थों को नहीं; क्योंकि पदार्थ नेत्र तक आते नहीं और नेत्र भी पदार्थ तक जाते नहीं और अगर काली टीकी (लेन्स) के ऊपर मोतियाबिन्दु आ जावे तो, पदार्थों का प्रतिबिम्ब लेन्स पर आता नहीं फलत: पदार्थों का देखना भी नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञेयों का जानना भी समझ लेना। इतना ही नहीं, वरन् जिन ज्ञेयों का ज्ञान होता है, उनमें वर्तने वाली किसी प्रकार की विकृति भी ज्ञान में नहीं आती; जानते हुए भी ज्ञायक तो निर्विकारी-शुद्ध ही बना रहता है। साथ ही ज्ञान में ज्ञात घटनाएँ वर्षों के अन्तराल के पश्चात् भी स्मरण करने पर वर्तमानवत् प्रत्यक्ष तो हो जाती हैं लेकिन विकृतियों का अंश, ज्ञान के साथ नहीं आता। और अनेक वर्षों में उपार्जित अगनित पुस्तकों आदि अनेक विषयों का ज्ञान, आत्मा में रहते हुए भी उसका वजन नहीं होता तथा वर्षों पुरानी घटना स्मरण करते ही प्रत्यक्ष हो जाती है, पुरानी होने से प्रत्यक्ष होने में समय नहीं चाहिये अर्थात् १० वर्ष पुरानी घटना को १० सेकण्ड एवं १ घंटा पहिले की को १ सेकण्ड लगती हो, ऐसा भी नहीं है। इन सब कारणों से ज्ञायक (आत्मा) का अमूर्तिकपने के साथ महान् सामर्थ्य भी सिद्ध होता है; यह तो अज्ञानी के एक समयवर्ती बर्हिलक्ष्यी इन्द्रियाधीन ज्ञान पर्याय की सामर्थ्य है। यही ज्ञान स्वलक्ष्यी होकर जब परिणमता है तो अतीन्द्रियता पूर्वक ज्ञायक को जानता है, वह ज्ञान पूर्ण विकसित होने एवं लोकालोक के ज्ञेयों के आकार परिणत अपनी पर्याय को

जानने से सर्वज्ञ हो जाता है; उपर्युक्त विवेचन से ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि जानने की प्रक्रिया तो सबकी समान है; अत: सिद्ध भगवान अपने ज्ञायक में अपनेपन पूर्वक लीन रहते हुए, स्व-पर को जानते हैं, ज्ञानी ज्ञायक में अपनेपन पूर्वक,लेकिन लीनता रहित स्व-पर को जानते हैं और अज्ञानी पर में अपनेपन पूर्वक पर में लीन रहते हुए मात्र पर ज्ञेयाकार परिणत ज्ञान पर्याय को जानता है। तात्पर्य यह है कि मैं भी ज्ञायक में अपनेपन पूर्वक स्व-पर को जानूँ तो मैं भी ज्ञानी हो सकता हूँ।

आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त अनन्त गुण हैं, इससे उन गुणों की सामर्थ्यों का अनुमान भी हो जाता है। इस प्रकार की अनन्त शक्तियों का धारक आत्मा है, वही मृत्युकाल में इस शरीर को छोड़कर अन्यत्र जाता है। अविनाशी होने से वह अनादि अनन्त विद्यमान रहता है, शरीर के साथ उसका नाश नहीं होता। **अत: जो निकल जाने वाला ज्ञायक है वह ही मैं हूँ; यह शरीर मैं नहीं हूँ, सहज ही, ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाती है। इसप्रकार आत्मा का स्वरूप पहिचानकर, उसके आश्रय से जो शरीर के प्रति भिन्नता का ज्ञान करना है, वह अज्ञानी के लिये भेदज्ञान का प्रथम सोपान है।** रुचि के पृष्ठबलपूर्वक अपनाये गये उपर्युक्त प्रकार के भेदज्ञान द्वारा, असद्भूत उपचारनय के विषय ऐसे, शरीर एवं शरीर से संबंध रखने वाले जो स्त्री-पुत्रादि चेतन एवं मकान, जायदाद, रुपया-पैसा आदि अचेतन परिकर हैं उनसे अपनापन टूटकर, अपने आत्मा में अपनापन आ जाता है। आत्मा में मेरापन आ जाने पर, जिसको अपना मान रखा था ऐसे शरीरादि में परत्वबुद्धि उत्पन्न होकर, उस ओर से परिणति सिमट जाने से आत्मसन्मुखता प्रारम्भ हो जाती है।

सिद्धस्वभावी ज्ञायक की स्थापना

आत्मा के विकार का अभाव कर, निर्विकारी स्वरूप प्राप्त करने का आधार, उग्र रुचि के पृष्ठबलपूर्वक, ज्ञायक ध्रुव तत्त्व का आश्रय है अर्थात् अपने ध्रुव स्वरूप में अपनत्वपूर्वक की श्रद्धा है। अनादि से अपरिचित-अव्यक्त होने से आत्मा का ध्रुवस्वरूप सूक्ष्म है; और आत्मद्रव्य की वर्तमान पर्याय है, वह परिचित-व्यक्त होने से स्थूल है। अत: अज्ञानी के ज्ञान में पर्याय का वेदन होने से पर्याय तो ज्ञानमें आ जाती है, **लेकिन ध्रुव ज्ञात नहीं होता। उसका तो स्वरूप समझकर, नि:शंक निर्णय होने पर, श्रद्धा-प्रतीति-विश्वास ही किया जाता है; ज्ञेय नहीं बन सकता। ज्ञानी को भी निर्विकल्प दशा में, मात्र संवेदन ही होता है, आनन्दानुभूति होती है; ज्ञायक प्रत्यक्ष नहीं होता।** इसलिये ध्रुव की रुचि के जोर से प्रगट पर्याय को गौण-उपेक्षा कर, त्रिकाल एकरूप (सिद्ध भगवान् की आत्मा के समान) ध्रुवस्वरूप को रुचि पूर्वक समझकर पहिचानकर, नि:शंक निर्णय होकर, श्रद्धा होती है कि मैं तो ध्रुव-त्रिकाल रहनेवाला सिद्ध भगवान् के समान हूँ। पर्याय एक समयवर्ती है; मैं तो त्रिकाल रहने वाला अनुभव में आ रहा हूँ। अत: वह ही मेरा स्वरूप है, वही ध्रुव है।

उक्त प्रकार का निर्णय एवं श्रद्धा करने के लिये, भगवान् सिद्ध की प्रगट प्रर्याय का स्वरूप समझना अनिवार्य है। अनन्तगुणों की अपार सामर्थ्य सिद्ध दशा होने पर प्रगट हो जाती है। ज्ञान पर्याय की सामर्थ्य अनन्तता को प्राप्त होकर सर्वज्ञता को प्राप्त हो जाती है। वीतरागतापूर्वक सर्वज्ञता प्रगट होकर जानने को कुछ रहा नहीं, अत: जानने की आकुलता आदि समस्त प्रकार की आकुलताओं का

आत्यन्तिक क्षय (नाश) हो जाने से, अनन्त अपरिमित अनाकुलआनन्द को भोग रहे हैं। इसी प्रकार की अनन्त सामर्थ्यों की पूर्ण प्रगटता सिद्ध भगवान् को हो चुकी है। **ऐसी सामर्थ्यों का भंडार सिद्ध भगवान् का आत्मा था, तब ही तो वे सामर्थ्य पर्याय में प्रगट हो सकीं; भंडार में नहीं होती तो पर्याय में प्रगट कैसे हो जाती।**

आत्मार्थी को उक्त प्रकार के निर्णय होने पर, रुचि के उग्रबल पूर्वक, अनादि से अपरिचित एवं अव्यक्त ऐसे ध्रुवस्वरूप का विश्वास जाग्रत होकर प्रतीति (श्रद्धा) उत्पन्न हो जाती है। और परिणति बाहर की ओर से सिमटकर, अर्न्तमुखी होकर कार्यरत हो जाती है। **ऐसी दशा प्राप्त आत्मार्थी, सिद्ध भगवान् को अपने ज्ञान में लेकर ध्रुव में स्थापन कर लेता है।** समयसार गाथा १ की टीका में कहा भी है कि "वे सिद्ध भगवान् सिद्धत्व से साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द (प्रति ध्वनि) के स्थान पर हैं, जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिंतवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति-मोक्ष को प्राप्त करते हैं।" इस प्रकार उनको ध्रुव में स्थापन कर, अर्थात् ध्रुव का स्वरूप सिद्ध समान मानकर, रुचि एवं परिणति का आकर्षण ध्रुव में केन्द्रित करने के लिये, आत्मा की अनन्त सामर्थ्यों के चिन्तन द्वारा, उत्कृष्ट महिमा जाग्रत करता है। उन सामर्थ्यों का संक्षेपीकरण समयसार गाथा २ की टीका के ७ बोलों में समेटकर वर्णन किया है। उपर्युक्त दोनों गाथाओं पर हुए पूज्य श्रीकानजीस्वामी के प्रवचन (जो प्रवचन रत्नाकर में प्रकाशित हो चुके हैं) रुचिपूर्वक स्वमुखापेक्षी भेदज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये मूलत: पठनीय-चिंतनीय एवं अनुसरण करने योग्य हैं आत्मार्थी को स्वकल्याण की दृष्टिपूर्वक उनका अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

वास्तव में उपर्युक्त ७ विशेषताओं वाला आत्मा ही शुद्ध प्रमाण ज्ञान का विषय आत्मद्रव्य है और वही सिद्ध भगवान् का आत्मा है। ऐसे आत्मा के संसार अवस्था में २ रूप हो जाते हैं; एक तो त्रिकाली रूप, वह तो त्रिकाल रहने से ध्रुव है और वही सिद्ध भगवान् के आत्मा का रूप है और वही मेरी श्रद्धा का श्रद्धेय है; उसी की स्थापना मैंने की है, उसका आश्रय करने (अपना स्वरूप मानने) से ज्ञान अन्तर्लक्ष्यी होकर कार्यरत हो जाता है।

एक समय मात्र की मर्यादा वाला अनित्य स्वभावी पर्याय दूसरा रूप है। इसका तो जीवन काल ही मात्र एक समय का है, इसको अपना मानने (पर्याय रूप ही अपना अस्तित्व मानने) से तो मुझे प्रति समय के जीवन-मरण का दु:ख भोगना पड़ेगा। अत: मैं पर्याय रूप नहीं हूँ। सहज ही ऐसा निर्णय आता है। ऐसी श्रद्धा होने से पर्यायों के प्रति, आकर्षण घट जाता है; फलत: ज्ञान में पर्यायें गौण रहकर अकेला ध्रुव विषय रह जाने से, उपयोग निर्विकल्प होने की पात्रता उत्पन्न कर लेता है। यह ही अज्ञानी को ज्ञानी बनाने वाला दूसरे प्रकार का भेदज्ञान है।

संक्षेप में, सार यह है कि भेदज्ञान की प्रक्रिया में क्रमश: बढ़ती हुई रुचि की उग्रता के पृष्टबल सहित सिद्धस्वभावी ध्रुव में अपनत्व होकर, उसकी सर्वोत्कृष्टता के साथ पर एवं पर्याय के प्रति वर्तने वाले आकर्षण का अभाव वर्तना, यह ही मूल आधार है।

भेदज्ञान के यथार्थ प्रयोग से उपलब्धि

जिस आत्मार्थी की रुचि, तीव्रता के साथ ज्ञायक के सन्मुख होकर आत्मदर्शन करने के लिए तत्पर हो; ऐसा

आत्मार्थी ही भेदज्ञान पूर्वक सफलता प्राप्त करने का पात्र होता है। सभी प्रकार के भेदज्ञान के पुरुषार्थ में, उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता का पृष्टबल मुख्य रहता है; इसके द्वारा स्व की ओर का आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है एवं पर की ओर का आकर्षण घटता जाता है। इस प्रकार की अर्न्तस्थिति ही, आत्मानुभव की सफलता का मूल आधार है।

उपर्युक्त प्रक्रिया में व्युत्पन्न आत्मार्थी, जब निर्णीत मार्ग के प्रयोग करने का (स्वानुभूति का) पुरुषार्थ करता है तो, सहज रूप से उसका ज्ञान अन्तर्लक्ष्यी अर्थात् स्वमुखापेक्षी होने की ओर अग्रसर होता है। यह पुरुषार्थ प्रायोग्यलब्धि का है। इस प्रक्रिया में, ज्ञायक ध्रुवतत्त्व ऐसे स्व में अपनेपन की श्रद्धा सहित उत्तरोत्तर स्व की ओर का आकर्षण बढ़ता जाता है, तथा नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्म आदि ज्ञेयमात्र जो भी हैं, वे सब परज्ञेय के रूप में रह जाते हैं। उनके प्रति परपने की श्रद्धा हो जाने से, सहजरूप से आकर्षण घटता जाता है एवं मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी के अनुभाग सहज रूप से क्षीणता को प्राप्त होते जाते है; फलतः ज्ञान का परमुखापेक्षीपना भी ढीला होता हुआ, स्वमुखापेक्षीपने की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होता जाता है। इस प्रक्रिया में, रुचि की उग्रता का बढ़ते रहना एवं ज्ञेयमात्र की ओर से परिणति का सिमटते हुए आत्मा में एकत्व करने की ओर बढ़ते जाना, ऐसी अर्न्तपरिणति का होना सब से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। ऐसी स्थिति होने पर ही आत्मानुभव प्राप्त करने में सफलता होती है।

ऐसे आत्मार्थी की श्रद्धा ऐसी हो जाती है कि आत्मा तो वास्तव में वही है, जो अंतिमदशा में रहे। तात्पर्य यह है कि जो सिद्ध भगवान का प्रमाणरूप द्रव्य है, (उनके द्रव्य और पर्याय एक जैसे हैं) वास्तव

में आत्मा तो वही है और वही पूर्ण दशा होने पर अनन्तकाल रहता है; मेरा भी आत्मद्रव्य वैसा ही है। उस आत्मद्रव्य के ही उपर्युक्त प्रकार से संसार अवस्था में असमानरूप के दो पक्ष हो जाते हैं। एक तो ध्रुव पक्ष और दूसरा विकारी पर्यायपक्ष।

ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। वह स्व-पर का ज्ञायक होने के साथ-साथ, सदैव शुद्ध रहता हुआ परिणमता है। उसका परिणमन विकारी नहीं होता (जानने में हीनाधिकता होना, विकार नहीं है।)। स्वयं की योग्यता से निरपेक्षता पूर्वक स्व को स्व के रूप में एवं पर को पर के रूप में जानता रहे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव के प्रगटता की पूर्णता, वह सर्वज्ञता है एवं घालमेल के बिना प्रगटता की अपूर्णता, वह साधक दशा है। जानने का कार्य तो स्वक्षेत्र में रहकर होता है, स्व की ज्ञान पर्याय ही, स्व एवं पर ज्ञेयों के आकार रूप परिणमती हुई, उत्पाद करती है, आत्मा उसको ही जानता है; प्रत्येक आत्मा को स्व-पर का जानना इसी प्रकार होता है। पर के सन्मुख होकर, अथवा उनके समीप जाकर, परज्ञेयों को नहीं जानता, अपने ज्ञेयाकार ज्ञान को ही जानता है। **इस प्रकार आत्मा स्वक्षेत्र में रहते हुए, स्व एवं पर को, स्वमुखापेक्षी रहते हुए ही जानने के स्वभाव वाला है। वास्तव में परज्ञेयों के जानने के लिए आत्मा को इन्द्रियादि की पराधीनता भी नहीं है। पर में करने-धरने का तो, प्रश्न ही नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि आत्मा तो द्रव्य-पर्याय सभी अपेक्षा ज्ञायक-अकर्ता है।**

उपर्युक्त स्थिति का, ज्ञेयों की ओर से भी विचार किया जावे तो सभी ज्ञेय, उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभावी, स्वतंत्र सत्ताधारक पदार्थ हैं। वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने-अपने उत्पाद-व्यय अर्थात् पर्यायों को कर रहे हैं। उनके कार्य (उत्पाद-व्यय) में किसी का हस्तक्षेप न तो है और न हो ही सकता है। (समयसार गाथा ३ की टीका के

अनुसार) ऐसी स्थिति में उनको जानने – नहीं जानने से, उनके परिणमन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अत: उनको जानने की आकांक्षा भी निरर्थक है।

आत्मा की स्वयं की पर्याय भी ज्ञान के लिये तो ज्ञेय ही है। पर्याय के परिणमन कैसे भी हों, ज्ञान तो उनको भी निरपेक्षतया जानता रहता है, उसकी विकृति तो ज्ञान में आती नहीं, अपनी योग्यतानुसार, ज्ञान पर्याय ही उनके आकार परिणमती हुई उत्पन्न होती है। आत्मा उसको निरपेक्षता पूर्वक जानता है। विकारी तो श्रद्धा एवं चारित्र गुण की पर्यायें हैं; ज्ञान के लिये तो वे भी परज्ञेय हैं। अत: ज्ञान न तो उनका कर्ता है और न भोक्ता है, मात्र ज्ञायक है। यह कथन श्रद्धा अपेक्षा है। चारित्र अपेक्षा तो तीन कषायों के सद्भावात्मक विकार ज्ञानी को भी होता है, अत: ज्ञानी उसका कर्ता-भोक्ता भी है। सम्यग्ज्ञान सब को यथावत् जानता है। फलत: अभाव करने का पुरुषार्थ भी ज्ञानी को निरंतर वर्तता रहता है; वह पुरुषार्थ भी आत्मा का आत्मा में ही होता है। ज्ञायक में अपनत्व के बल से, परिणति को पर्याय की ओर से व्यावृत्त करके, स्व में एकाग्र करते ही पर्याय की विकृति का अभाव हो जाता है। अत: स्वच्छन्दता का अवकाश ही नहीं रहता।

तात्पर्य यह है कि आत्मा तो ज्ञेयों के आकार परिणत, स्वयं की ज्ञानपर्याय को जानता है; इसलिये उसको परमुखापेक्षी होने का अवकाश ही नहीं रहता। फलत: अतीन्द्रियता प्राप्त करने की पात्रता प्रगटकर लेता है। इस प्रकार की अन्तर्परिणति वर्तने पर, ज्ञेयमात्र सहज ही उपेक्षित अर्थात् गौण रह जाते हैं; करने नहीं पड़ते। ज्ञानी होने पर तो सहजरूप से ऐसी अन्तर्परिणति वर्तने लगती है, प्रयास नहीं करना पड़ता। लेकिन उपर्युक्त प्रकार के अभ्यास द्वारा श्रद्धा के बल से उक्त आत्मार्थी को तो परिणति प्रगट करनी पड़ती है। इस

प्रकार की परिणति वर्तना ही वास्तविक मार्ग है और यही सविकल्पता द्वारा निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगट करने वाला भेदज्ञान है।

विकारी आत्मा को ज्ञायक कैसे मानें ?

प्रश्न – पाँचों अचेतन द्रव्यों की पर्यायें तो उनके ध्रुव के समान, परिणमती हैं; लेकिन हमारी पर्याय तो विकारी है। ऐसी दशा में आत्मा को निर्विकारी-ज्ञाता मात्र कैसे मान लिया जावे ?

उत्तर – उपर्युक्त समस्या जटिल दिखते हुए भी, वास्तव में जटिल नहीं है, दृष्टि की विपरीतता ने उसे जटिल बना लिया है। वास्तव में आत्मवस्तु (प्रमाणरूपवस्तु) तो वही है जो सिद्ध भगवान् की है, उनकी पर्याय भी ध्रुव जैसी ही वर्त रही है। **आत्मा का स्वभाव भी वही है। यह नियम आत्मार्थी के ज्ञान-श्रद्धान में निःशंक रूप से स्वीकार होना चाहिये। ऐसा विश्वास होने पर ही, वास्तविकता खोजने के लिये उसकी दृष्टि सम्यक् प्रकार से कार्य करेगी। लेकिन बहुभाग आत्मार्थी, इससे विपरीत विकारी पर्याय को मुख्य कर आत्मा को विकारी मानते हुए, ज्ञायक को खोजने की चेष्टा करते हैं; यह दृष्टि विपरीत है।**

उपर्युक्त प्रकार की आत्मवस्तु के दो रूप हैं; उसका त्रिकाली स्वरूप तो, त्रिकाल-अपरिवर्तित-नित्य एवं ध्रुव बना रहता है; ज्ञायक एवं दृष्टि का विषय भी उसी को कहते हैं। मेरा त्रिकाली स्वरूप भी वही है। **ध्रुव तो ध्रुव ही रहता है, प्रत्येक समय के परिणमन में वह तो अपरिवर्तित बना रहता है। उसको अपना स्वरूप मानकर ऊर्ध्व रखते हुए, पर्याय के विकार एवं उसके कारणों की खोज करना, वह सत्यार्थ दृष्टि है। इसके विपरीत, रूप बदलती हुई अनित्य स्वभावी पर्याय को, अपना स्वरूप मानकर, ज्ञायक की खोज करना, असत्यार्थ अर्थात् मिथ्या दृष्टि है।** क्योंकि

ज्ञायक की खोज करने वाली अनित्यस्वभावी पर्याय, स्वयं ही नाश को प्राप्त हो ज़ावेगी; फलत: खोज सफल कैसे हो सकेगी ? इसलिये प्रथम यह स्वीकार होना चाहिये कि "मैं तो ध्रुव रहने वाला सिद्ध स्वभावी आत्मा हूँ, मेरा स्वाभाविक परिणमन ज्ञान है अत: मैं तो ज्ञायक हूँ। विकार का तो एक समय की स्थिति (आयु) लेकर जन्म हुआ है; आगामी समय इसकी उत्पत्ति नहीं हो तो, आत्मा तो सिद्ध स्वभावी था, वही रह जावेगा।" इस प्रकार की स्थिति समझकर-निर्णयकर, श्रद्धा करने से, अपने स्वभाव की महत्ता-ऊर्ध्वता-अधिकता का विश्वास जाग्रत होगा और विकार की तुच्छता-अनित्यता भासने लगेगी; फलत: सफलता का मूल आधार ऐसी रुचि में उग्रता आ जावेगी और उसके द्वारा, विकार के अभाव का पुरुषार्थ भी तीव्र हो जावेगा। उक्त श्रद्धा के साथ आत्मार्थी ऐसे उपायों की खोज करेगा जिससे विकार का उत्पादन रुक जावे ? यही ज्ञायक की खोज की उपलब्धि है और यही समीचीन दृष्टि है।

विकार का उत्पादक कारण क्या ?

प्रश्न – विकार के उत्पादक कारणों को समझाइये ?

उत्तर – आत्मा के अनन्त गुणों में, एक गुण भी ऐसा नहीं है जो विकार का उत्पादन करे; सामर्थ्य के अभाव में आत्मा तो विकार का उत्पादन कर नहीं सकता और पर द्रव्य अथवा द्रव्यकर्मादि भी, आत्मा की पर्याय में, विकार का उत्पादन नहीं कर सकते; क्योंकि उनका आत्मा में अत्यन्ताभाव है, जिनका अभाव ही हो, वे आत्मा की पर्याय में विकार नहीं कर सकते। फिर भी जिनवाणी में निमित्त की मुख्यता से द्रव्यकर्मादि को आत्मा के विकार का कर्ता कहा है। वह किस प्रकार है,

उसकी चर्चा विस्तार से प्रथम भाग में की जा चुकी है; वहाँ से जान लेवें, विस्तारभय से यहाँ चर्चा नहीं करेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विकार का कर्ता न तो आत्मद्रव्य है और न द्रव्यकर्मादि अन्य द्रव्य हैं। निष्कर्ष यह है कि विकार उत्पन्न करने का संपूर्ण दायित्व, स्वयं पर्याय का ही है, अन्य का नहीं; अत: उपर्युक्त श्रद्धापूर्वक, पर्याय के कार्यकलापों का विश्लेषण करने से ही उत्पादक कारण का निर्णय हो सकेगा।

पर्याय और द्रव्य के प्रदेश अभेद होने से, दोनों का अस्तित्व भी अभेद है। अत: पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना की पर्याय नहीं होती। इस अपेक्षा, द्रव्य से निरपेक्ष रहकर भी पर्याय उत्पाद नहीं कर सकती; इस अपेक्षा आत्मा को पर्याय के विकार का कर्ता भी कहा जाता है। इन सब स्थितियों को स्वीकार करते हुए, विकार के उत्पादक कारण की खोज करना ही समीचीन मार्ग है।

द्रव्य में त्रिकाल रहने वाली शक्तियाँ-सामर्थ्य तो-गुण है, उनके परिणमन का नाम ही पर्याय है। आत्मा भी एक द्रव्य है, उसमें भी अनन्त गुण हैं; **लेकिन उनमें कुछ गुण ऐसे हैं, जो शुद्ध होते हुए भी, उनमें विकारी होने की योग्यता होती है। साथ ही एक ज्ञान गुण ऐसा भी है, जो स्व एवं पर को जानने के स्वभाव वाला होते हुए भी, कभी विपरीत परिणमन नहीं करता अर्थात् जानने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता।** इसलिये ज्ञान के परिणमन को स्वाभाविक क्रिया भी कहा है। द्रव्य में गुण अभेद रहते हैं; अत: द्रव्य के एक समय के परिणमन में, अनन्तगुणों का परिणमन एक साथ वर्तता है। **तात्पर्य यह है कि आत्मा के प्रति समय के परिणमन में अनन्तगुणों के कार्य एक साथ वर्तते हैं। उक्त परिणमन में, स्वाभाविक क्रिया ऐसे ज्ञान का परिणमन भी होता है तथा**

विपरीत परिणमन की योग्यता वाले गुणों में श्रद्धा एवं चारित्र गुणों के परिणमन भी साथ होते हैं। अत: इन तीन गुणों के परिणमनों से ही विकार के उत्पादन को समझेंगे।

उपर्युक्त गुणों में ज्ञान का कार्य तो, स्व एवं पर (अर्थात् स्व एवं पर के आकार परिणत ज्ञान पर्याय के ज्ञेयाकारों) को जानना है। जानने के विषय ऐसे 'स्व' में अपनापन स्थापन कर लेना अर्थात् उस रूप अपना अस्तित्व मान लेना यह श्रद्धा का कार्य है,(श्रद्धा स्व-पर की ज्ञायक नहीं होने से, स्व-पर का भेद नहीं करती)। अत: श्रद्धा ने जिसको अपना मान लिया हो, उसी में आचरण (लीन) होना चारित्र का कार्य है। इस प्रकार तीनों गुणों का परिणमन (पर्याय) एक समय में, एक साथ होता है, समय भेद नहीं होता। **इस प्रकार आत्मा के एक समय के परिणमन में, तीनों गुणों के कार्यों का उत्पाद, एक साथ होता है। इसमें अनादि से अज्ञानी की श्रद्धा विपरीत होने से, उसकी श्रद्धा का उत्पाद पर को स्व मानते हुए ही होता है; फलत: ज्ञान का भी पर को स्व जानते हुए एवं चारित्र का भी पर में आचरण की चेष्टा करते हुए, विपरीत** उत्पाद होता है। इसके विपरीत ज्ञानी की श्रद्धा सम्यक् होने से उसका ज्ञान व चारित्र भी सम्यक् परिणमन करता है।

आत्मा के लिये 'स्व' तो अकेला त्रिकाली ऐसा 'ज्ञायक' है; अन्य सब तो 'पर ही' हैं। स्व को स्व जानना तथा पर को, पर के रूप में जानना, यह ज्ञान की स्वाभाविक क्रिया है। इसके साथ श्रद्धा एवं चारित्र का परिणमन भी स्वाभाविक हो तो ऐसे परिणमन की पराकाष्ठा ही सिद्ध दशा है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। वे प्रति समय अपने में लीन रहकर, अतीन्द्रिय सुख सहित अनन्तगुणों का संवेदन करते हुए अपने को जानते हैं एवं स्व के अतिरिक्त, समस्त ज्ञेयों (लोकालोक) को भी

तन्मयतारहित जानते है; इस प्रकार परज्ञेयों को भी जानते अवश्य है, लेकिन लीनता रहित मात्र ज्ञान होता है। फलतः अनंतकाल तक सर्वज्ञता के साथ वीतरागी रहकर, अनन्त अतीन्द्रिय सुख को भोगते हुए परिणमते रहते है।

इसके विपरीत अज्ञानी - मिथ्यादृष्टि, आनादिकाल से श्रृंखलाबद्ध चलती आ रही, विपरीत मान्यता – श्रद्धा के कारण, स्व को भूलकर, पर को ही स्व के रूप में जानता-मानता एवं आचरण करता चला आ रहा है। ऐसा मानने से पर तो स्व होता नहीं, फलतः पर में आचरण भी सफल नहीं होता, प्रत्युत प्रतिसमय आकुलता के साथ विकार की उत्पत्ति करता है।

प्रश्न– जिनवाणी में विकार को संयोगी भाव भी कहा है। वह कैसे ?

उत्तर – किसी द्रव्य का किसी द्रव्य के साथ संयोग तो होता नहीं और आत्मा तो अमूर्तिक है, अमूर्तिक के साथ तो किसी का किसी प्रकार भी संयोग हो नहीं सकता। ऐसा होने पर भी, जब अज्ञानी को परज्ञेयों का ज्ञान होता है, उसी समय, स्व पर को मेरा मानने की विपरीत श्रद्धा भी श्रृंखलाबद्ध चली आ रही होती है; फलतः मान्यता में वह पर को अपना मान लेता है। इस प्रकार मान्यता में वह पर के साथ संयोग कर लेता है; इस कारण, विकारों को संयोगी भाव कहा गया है। और इसी अपेक्षा उन भावों को परकृत (पर से उत्पन्न हुये भाव) भी कह दिया जाता है। वास्तव में न तो किसी का संयोग होता है और न अन्य संयोग कराने वाला ही होता है। फिर भी विकार भाव को संयोगी कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा पर (परज्ञेय) को अपना मानना छोड़ दे; ऐसा होने से मान्यता में भी पर का संयोग नहीं होगा तो संयोगीभावों का उत्पादन भी नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि

विकारी भाव संयोगी भाव अथवा ज्ञेय मात्र को अपना मानना छोड़ना, यही है विकार की उत्पत्ति रोकने का वास्तविक उपाय।

पर को स्व जानने की भूल ज्ञान क्यों करता है ?

प्रश्न – ज्ञान तो आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है, वह पर को स्व के रूप में कैसे जानने लगती है ?

उत्तर – श्रद्धा से निरपेक्ष रहकर ज्ञान के परिणमन को देखें तो उसका उत्पाद तो, स्व एवं पर को जैसे हैं, वैसे ही जानते हुए होता है; वह पर को स्व के रूप में जानने की भूल नहीं करता। लेकिन तत्समय ही श्रद्धा गुण का श्रृंखलाबद्ध विपरीत परिणमन पर को स्व के रूप में मानता हुआ उत्पन्न हुआ और उसी समय ज्ञान पर्याय, उस को जानती हुई उत्पन्न हुई; इस प्रकार श्रद्धागुण के विपरीत परिणमन का प्रकाशन मात्र ज्ञान द्वारा हुआ। क्योंकि प्रत्येक गुण के कार्यों का प्रकाशन तो ज्ञान द्वारा ही होता है। द्रव्य में ज्ञान अभेद होने से, श्रद्धा द्वारा की गई विपरीतता को, ज्ञान आत्मा की विपरीतता के रूप में परिचय देता है। इस प्रकार आत्मा अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। **पर को स्व के रूप में मानने की भूल करने का दोषी (अपराधी) तो श्रद्धा गुण की पर्याय है, ज्ञान का दोष नहीं है; फिर भी परिणमन अभेद होने से पर को स्व जानने का अपराधी ज्ञान को भी कह दिया जाता है।**

उपर्युक्त स्थिति समझने का लाभ यह है कि जिसको सिद्ध बनना हो उसको, संसार का मूल कारण (वास्तविक कारण) ज्ञान को नहीं मान कर, मिथ्या मान्यता (मिथ्याश्रद्धा) को मानना चाहिये और जैसे भी बन सके, उसका ही अभाव करना चाहिये।

मिथ्या श्रद्धा अनादि की कैसे ?

प्रश्न – जब श्रद्धा एवं ज्ञान का परिणमन एक साथ होता है, तो, विपरीत मान्यता सहित श्रद्धा की पर्याय का जन्म कैसे हो जावेगा?

उत्तर – जब द्रव्य और गुण, त्रिकाल शुद्ध रहते हैं तो, पर्याय के विपरीत कार्य का कर्ता द्रव्य अथवा गुण तो हो नहीं सकता और ज्ञान में विपरीतता होती नहीं; फिर भी विपरीत मान्यता वाली पर्याय का उत्पाद तो हुआ ही है। अत: उसका कारण खोजना चाहिये।

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय, द्रव्य से ही उठती है अर्थात् उत्पाद होता है और व्यय होने के पश्चात् द्रव्य में ही समा जाती है अर्थात् पारिणामिक रूप हो जाती है; लेकिन पर्याय में होने वाली विपरीतता न तो द्रव्य में से आती है और न व्यय के साथ द्रव्य में जाती है वरन् पर्याय के व्यय के साथ ही विपरीतता का भी व्यय हो जाता है। विपरीत मान्यता रहित मात्र पर्याय, द्रव्य में समा जाती है।

प्रश्न – विपरीत मान्यता तो श्रृंखलाबद्ध अनादि से चली आ रही है, फिर उपर्युक्त कथन कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर – कोई विपरीतता नहीं है। आत्मा के अनन्तगुणों में, ज्ञान की असाधारणता तो स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव के कारण है, क्योंकि वह स्वभाव किसी गुण में नहीं मिलता। इसी प्रकार श्रद्धा गुण की भी ऐसी असाधारणता है कि वह नर-नारकादि पर्याय बदल जाने अर्थात् गति परिवर्तन हो जाने पर भी, पर्याय के साथ, उसका नाश नहीं होता स्वर्ग-नरकादि में जाने पर भी वह अक्षुण्ण बनी रहती है। यह सामर्थ्य अन्य गुणों में नहीं है। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरकर नरक भी चला जावे तो भी उसकी श्रद्धा तो अक्षुण्ण बनी रहती है। लेकिन

अन्य गुणों अर्थात् ज्ञान एवं चारित्र के परिणमन अक्षुण्ण नहीं रहते। चारित्र का जितने अंश में श्रद्धा के साथ बने रहने का अबिनाभावी संबंध है, उतना चारित्र साथ रह जाता है। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज के सर्वार्थसिद्धि पहुँच जाने पर, सम्यक्त तो अक्षुण्ण बना रहता है, लेकिन स्वरूपाचरण के अतिरिक्त चारित्र साथ नहीं जाता, इसी प्रकार ११ अंग ९ पूर्व का पाठी द्रव्यलिंगी साधु का ज्ञान, पर्याय के साथ ही व्यय को प्राप्त हो जाता है ? श्रद्धा गुण के अक्षुण्ण परिणमन की इस प्रकार की योग्यता होने से आत्मा में इसके संस्कार भी अक्षुण्ण बने रहते हैं। इसी प्रकार सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पूर्व भी, जो पुरुषार्थ ज्ञायक में अपनत्व करने का किया गया हो और उससे मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी की क्षीणता हुई हो तो ऐसे श्रद्धा के संस्कार भी आगामी भव में आत्मा के साथ जाते हैं, लेकिन ज्ञान के नहीं। इस प्रकार श्रद्धा के कार्य की श्रृंखला चलती है ज्ञान एवं चारित्र की नहीं अर्थात् श्रद्धा सम्यक् हो तो, श्रृंखला के कारण पर्यायें प्रति क्षण बदलते हुए भी, प्रत्येक पर्याय में सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न होती रहती है। इसी प्रकार अज्ञानी-मिथ्यात्वी आत्मा की, पर को स्व मानने की विपरीत मान्यता की श्रृंखला अनादि से चलती आ रही है; फलस्वरूप प्रत्येक पर्याय का उत्पाद ही, पर को स्व मानने रूप होता है। इस प्रकार ज्ञान का भी पर को स्व जानने रूप तथा चारित्र का भी पर आचरण (पराचरण) रूप परिणमन श्रृंखलाबद्ध होता रहता है। यही है अनादि से चला आ रहा, पर को स्व मानने रूप विपरीत मान्यता के उत्पाद का इतिहास।

इस प्रकार पर को जानना दोष का उत्पादक नहीं है, वरन् पर में अपनेपने की मान्यता ही संसार का मूल कारण है।

अनादि की मिथ्याश्रद्धा का नाशकर, सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न कैसे हो ?

प्रश्न – अनादि से चली आ रही मान्यता का नाश कैसे होगा?

उत्तर – **भाई ! मान्यता का तो प्रतिसमय नया-नया उत्पाद होकर, नाश भी होता रहता है; इसलिये विपरीत मान्यता का काल अनादि नहीं है वरन् श्रृंखला अनादि की है। ऐसी श्रृंखला तोड़ने के लिये अनन्त समय नहीं चाहिये, मात्र एक समय ही पर्याप्त है।** जैसे एक अविवाहित कन्या को सगाई का दस्तूर होते ही अपने पिता के घर को अपना मानना छोड़ने में मात्र एक क्षण ही लगता है। **उसी प्रकार पर को अपना मानना छोड़कर, अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव को अपना मानने के लिये, मात्र एक क्षण ही पर्याप्त होता है। कारण, पर्याय का काल ही एक समय होता है, फिर तो बिना प्रयास के उसका व्यय हो जाता है। वास्तव में तो विपरीत मान्यता को छोड़ना भी नहीं होता, वरन् सत्यार्थ मान्यता का उत्पाद होते ही विपरीत मान्यता का उत्पाद नहीं होता; इसी को विपरीत मान्यता का नाश किया, ऐसा कहा जाता है।**

प्रश्न – सत्यार्थ मान्यता का उत्पाद कैसे हो ?

उत्तर – मान्यता श्रद्धा गुण की पर्याय है। श्रद्धा का भी प्रतिसमय जन्म होता है। नि:शंक निर्णय के द्वारा, ज्ञायक की श्रद्धा होती है, निर्णय वास्तविक समझ के द्वारा होता है। सत्यार्थ समझ के लिये, सत्यार्थ मार्ग प्राप्त ज्ञानी पुरुषों का समागम कर, जिनवाणी में वीतरागता पोषक विषयों के द्वारा मार्ग निकालने की दृष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिये, उसके द्वारा जैसे भी बने उस प्रकार, अपने आत्मा के त्रिकाली स्वरूप

को समझकर, उसमें एकत्व अर्थात् अपनापन करने की तीव्रतम रुचि-महिमा उत्पन्न होनी चाहिए और अपना स्वरूप सिद्ध भगवान् के समान मानकर, स्वसन्मुखता पूर्वक अपने को जानने के स्वरूप वाला ज्ञायक मानकर, निर्णय कर श्रद्धा करना चाहिये। फलस्वरूप ज्ञेयों के परिणमन, उनकी योग्यतानुसार क्रमबद्ध हो रहे हैं ऐसी निरपेक्ष वृत्ति उत्पन्न हो जावेगी और उनके जानने के प्रति भी उत्साह नहीं रहेगा अर्थात् पर का आकर्षण ही टूट जावेगा। और ज्ञायक-ध्रुव वही आकर्षण का केन्द्र बन जायेगा। निष्कर्ष यह है कि उत्कृष्ट महिमा लाकर, अपने ज्ञायक में अतीव्र आकर्षण उत्पन्न होना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि विपरीत मान्यता का अभाव कर सत्यार्थ मान्यता उत्पन्न करने का, उपर्युक्त प्रकार का उपाय अपनाकर, अनादि से चली आ रही श्रृंखला को तोड़ देना चाहिये। यही है भेदज्ञान के यथार्थ प्रयोग का फल और यही है अनादिकालीन संसार परिभ्रमण के नाश करने का उपाय। आत्मा में विकार की उत्पत्ति का इतिहास भी यही है एवं उसका नाशकर, सर्वज्ञ, वीतराग बनने का प्राथमिक उपाय भी यही है।

सद्भूत-असद्भूत के विषयों से भेदज्ञान में अन्तर

असद्भूत नयों के विषयों का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव वर्तता है, उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सभी का आत्मा में अत्यन्ताभाव है; इसप्रकार वे तो आत्मा में हैं ही नहीं – ऐसा मानकर, उनसे अपनेपन का नाता तोड़कर आत्मा में अपनत्व करना चाहिये। इस पद्धति में जिसमें अपनापन किया, वह आत्मा भी प्रमाणरूप द्रव्य रहता है और जिनसे अपनत्व तोड़ा वे परद्रव्य होते

हैं। इसप्रकार आत्मा में इनका अभाव मानना ही इस प्रणाली मूल आधार है; लेकिन सद्भूतनय के विषयों में आधार परिवर्तित हो जाता है।

सद्भूतनय के विषयों का तो आत्मा में सद्भाव वर्तता है। जब तक आत्मा पूर्णदशा प्राप्त नहीं कर ले तब तक उनका आत्मा में सद्भाव मानते हुए उनसे भेदज्ञान मूल आधार होता है। आत्मा एवं सद्भूतनय के विषय के द्रव्य-क्षेत्र-काल तीनों तो एक ही होते हैं, लेकिन भाव भिन्नता होती है। अतः पर्याय में इनका अस्तित्व मानते हुए भी है, उनमें परत्व बुद्धि उत्पन्न कर आकर्षण का अभावकर ज्ञायक में अपनत्व का आकर्षण उत्पन्न करने का उद्देश्य इस पद्धति का होता है। इस प्रणाली में निजत्व स्थापन करने का विषय तो शुद्ध निश्चय नय का विषय होता है और जिनसे अपनत्व तोड़ना है वे सद्भूत नय के विषय आदि समस्त विश्व होता है।

तात्पर्य यह है कि असद्भूत नय के विषयों का आत्मा में नास्तित्व मानकर, उनका उनमें ही अस्तित्व स्वीकार कर, उनके परिणमनों का कर्ता उनको ही मानकर, उनके प्रति अपनत्व का आकर्षण तोड़, निर्भार होकर अपनी आत्मा में अपनत्व का आकर्षण उत्पन्न किया जाता है। तत्पश्चात् शुद्धनय के विषयभूत ध्रुव-ज्ञायक में अपनत्व एवं सद्भूतनय के विषयों में परत्व पूर्वक आकर्षण तोड़कर, मात्र ज्ञायक में आकर्षण के लिये भेदज्ञान की पद्धति अपनाई जाती है। इस पद्धति में, अनन्तगुणों एवं सभी पर्यायों का आत्मद्रव्य में अस्तित्व मानते हुए भी, ज्ञायक में उनका भेदरूप अस्तित्व नहीं होने से उनके प्रति अपनत्व आदि सभी प्रकार के आकर्षण तोड़ने के लिये भेदज्ञान होता है।

इसकी सफलता और विकार का अभाव करने के लिये स्वाभाविक पर्याय और विकारी पर्याय से भेदज्ञान किया जाता है। जैसे क्रोधादि पर्यायें तो चारित्र गुण की विकृत पर्यायें है। आत्मा में जब उनका उत्पाद हुआ, उसी समय ज्ञान पर्याय में विकार का ज्ञान हुआ। निष्कर्ष यह है कि क्रोध और ज्ञान दोनों पर्यायों का उत्पाद साथ होता है, सभी गुणों का भी उत्पादन साथ ही होता है; क्योंकि द्रव्य अभेद है, ज्ञान और क्रोध की पर्यायों में, ज्ञान तो कभी विकृत होता नहीं तथा उसका तादात्म्य ज्ञायक के साथ है। ज्ञान पर्याय तो स्वाभाविक परिणमन है, लेकिन उसी समय चारित्र पर्याय विकृत उत्पन्न हुई है; दोनों का उत्पाद एक साथ होता है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी तो भेदज्ञानज्योति द्वारा ज्ञान क्रिया का करने वाला अपने को मानते हुए, क्रोधादि को ज्ञान का ज्ञेय मानकर, उसमें परत्व बुद्धिपूर्वक, ज्ञायक में अपनत्व दृढ़ करता रहता है। इसके विपरीत अज्ञानी को भेदज्ञान का उदय नहीं होने से और पर में अपनत्व होने से क्रोध रूप अपने को मानता हुआ, विकार का कर्ता बना रहता है।

इस प्रकार भावकर्म से भेदज्ञान करके ज्ञायक ध्रुव में अपनत्व कर, भावकर्म में परत्व मानकर परिणति को ज्ञायक में आकर्षित किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि असद्भूत नय के विषयों का तो अपने में नास्तित्व मानते हुए अपनेपन की मान्यता छोड़ने की मुख्यता होती है और सद्भूतनय के विषयों का अपने में अस्तित्व स्वीकारते हुए भी, ज्ञायक में उनका नास्तित्व होने से, अपने ज्ञायक के साथ अपनत्व करने की मुख्यता होती है। दोनों की भेदज्ञान प्रणाली में यह अन्तर है। ●

भेद विज्ञान का यथार्थ प्रयोग
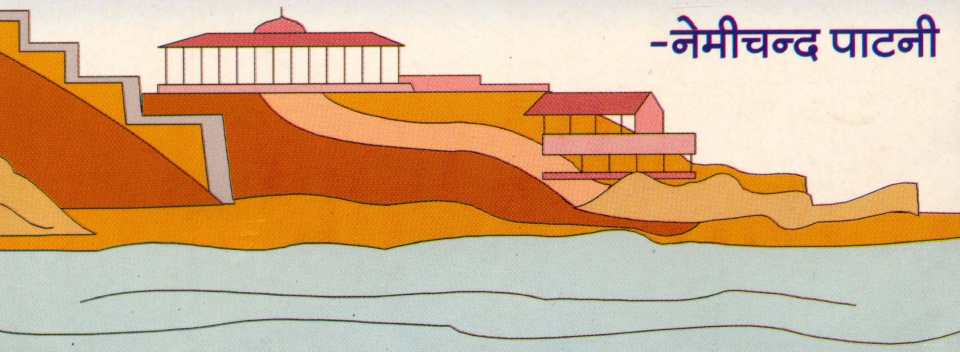
-नेमीचन्द पाटनी